

एक सामूहिक प्रयास की शुरुआत

सात औरतें, सात जिन्दगियाँ, बहुतेरी आकांक्षाएँ, संसार, सपने और संघर्ष। कहीं हमारी जिन्दगी के धागे एक-दूसरे में गुँथते हैं, तो कहीं अलग-अलग होकर बिखर-से जाते हैं। कहीं हमें इस कदर बाँधते हैं कि आँसुओं का सैलाब थमता नहीं है और कहीं हमें ऐसा उलझाते हैं कि लगता है कि एक ही समाज का हिस्सा होते हुए भी हमारे पड़ाव, हमारे मोड़ और हमारे अनुभव कितने अलग हैं! कितना फ़ासला है; कैसी-कैसी खाइयाँ हैं, जिन्हें हमने पहले कभी महसूस नहीं किया! कितनी तकलीफ़ें हैं, जिन्हें हमने इतनी शिद्दत के साथ पहले कभी जाना नहीं। इसलिये कि हम कुछ दीवारों, कुछ अभावों और कुछ उत्पीड़नों के बीच रहे नहीं। और, साथ ही उन तकलीफ़ों के बीच किस तरह जिया जाता है तथा किस तरह मौज-मस्ती की जाती है, इस सामूहिक-प्रयास के पहले हम इसकी कल्पना तक करने की स्थिति में नहीं थे।

‘जीवन और कार्यक्षेत्र की यात्रा’—यह नाम दिया था हमने इस प्रयास और इस सामूहिक-अनुबन्ध को, जिसमें प्रवेश करने का फ़ैसला हमने 2002 के दिसम्बर माह में किया। जो कहानियाँ, जो सुख-दुख, जो संघर्ष और सपने हम आपके साथ बाँटने जा रहे हैं, वह इसी प्रयास के पहले पड़ाव का हिस्सा हैं। इस पहले दौर में हमने जो पाया है, उसका बयान करना कठिन है—एक आत्मविश्वास, एक सामूहिकता, एक-दूसरे के लिये इज़्ज़त, और उस समाज में जीने और लड़ने के लिये पहले से कहीं ज़्यादा पैनी नज़र, जिसकी सीमाएँ एक तरफ़ हमारे भीतर आक्रोश पैदा करती हैं और हमें उनसे भिड़ने की ताक़त देती हैं, तो दूसरी तरफ़ उन सीमाओं में जीकर ही हम वे सम्भावनाएँ देख पाते हैं, जिनसे हमें अपने आगे की लड़ाइयाँ लड़ने की लगन और दिशा मिलती है।

इन संघर्षों और कहानियों को आगे सुनाने से पहले यह ज़रूरी है कि शुरुआत हम अपनी प्रक्रिया और अपने उद्देश्यों से करें—कौन हैं हम लोग? कैसे आये हम सब साथ? और कैसे हमने इस सामूहिक-अनुबन्ध में प्रवेश करने का फ़ैसला किया? कैसे तय की हमने इसकी प्रक्रिया? कैसे पिरोयी हमने अपनी नौ आवाज़ें? और किस तरह तमाम फ़ासलों, दिक्कतों और ग़ैरबराबरी के बावजूद हमने इस लेखन के कार्य को सम्पन्न किया?

000

इस *संगतिन-यात्रा*¹ में जो कहानियाँ, विवेचन, और विश्लेषण हम आपके साथ बाँटने जा रहे हैं, वे सात महिला कर्मियों की निजी डायरियों पर आधारित हैं। ये सातों महिलाएँ उत्तर प्रदेश में सीतापुर ज़िले के मिश्रिख ब्लॉक में स्थापित एक संगठन, *संगतिन* से जुड़ी हैं। इन्होंने ग्रामीण-स्तर की क्षेत्रीय-कार्यकर्ताओं के रूप में पिछले सात-आठ वर्षों से प्रदेश के महिला संगठनों में बहुत अच्छी पहचान बना ली है। जिन नामों के साथ ये सात डायरी लेखिकाएँ अपनी ही जिन्दगियों की पात्र बनकर

¹ इस *संगतिन-यात्रा* में हमारा सरोकार महिला संगठनों, एनजीओकरण से जुड़ी सामाजिक प्रक्रियाओं तथा इनकी सतह पर उतरा रही ग़ैर-बराबरियों से है। हमारी विवेचनाएँ एवं आलोचनात्मक-दृष्टिकोण भारतीय संविधान में प्रदत्त अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अंग है। इन्हें किसी संस्था या संस्थागत-प्रवृत्तियों के साथ किसी भी रूप में जोड़ना कदाचित् उचित नहीं होगा।

इस किताब के अगले पृष्ठों में उभरती हैं, वह नाम हैं राधा, पल्लवी, मधुलिका, गरिमा, चाँदनी, शिखा और संध्या।

इन सात डायरी लेखिकाओं ने अपने अनुभवों और संघर्षों की दास्तानों को एक-दूसरे के साथ बाँटकर जोड़ने-पिरोने और एक-सूत्र में बाँधने के लिए गठबन्धन बनाया एक दूसरे व ऋचा सिंह और ऋचा नागर के साथ।

ऋचा सिंह पिछले बारह वर्षों से नारी समता योजना (एन.एस.वाय.) नामक एक महिला-संगठन के साथ जुड़कर महिला मुद्दों पर काम कर रही हैं तथा वर्तमान में संगतिन के साथ भी जुड़ी हुई हैं।

ऋचा नागर का संगतिन की साथियों से पिछले सात सालों से एक मित्र के रूप में जुड़ाव रहा है। ऋचा नागर 1989 में लखनऊ से यूनिवर्सिटी ऑफ मिनेसोटा (संयुक्त राष्ट्र अमरीका) पहुँची और वहीं से सामाजिक-भूगोल में पी.एच.डी. हासिल की। अब वह यूनिवर्सिटी ऑफ मिनेसोटा के महिला-अध्ययन विभाग में कार्यरत हैं।

ऋचा सिंह और ऋचा नागर उत्तर प्रदेश के विभिन्न महिला संगठनों की गतिविधियों के ज़रिये एक-दूसरे से परिचित हुईं। दरअसल जून 1996 में ऋचा नागर को ऋचा सिंह के साथ कुछ दिन सीतापुर में उनका काम करीब से देखने-जानने का मौका मिला था। उस मुलाकात के बाद दोनों का सघन-परिचय होना शुरू हुआ मार्च 2002 में, जब एक दिन ऋचा सिंह अचानक ऋचा नागर से मिलने लखनऊ पहुँच गयीं। वहीं से चल पड़ा मुलाकातों, रिश्तों और बातचीत का एक लम्बा-सिलसिला। आज वह एक पड़ाव पर आकर इस किताब में तब्दील हो गया है। हमारी ख्वाहिश है कि एनजीओ-जगत में काम करने वाले हर स्तर के लोगों तक तो हमारी यह किताब पहुँचे ही, इसके साथ ही हमारे गाँवों के बच्चे और मास्टर-मास्टरनियाँ भी इसे पढ़ें। पर सबसे ज़्यादा तो हमारी यही आरजू है कि हम जैसी गाँव-स्तर की कार्यकर्ता हमारे सफ़र की कहानी पढ़ें, ताकि अनुभवों और हिम्मतों के आदान-प्रदान का यह सिलसिला आगे बढ़ता चले।

000

‘ज्ञानोत्पादन की राजनीति’ और एक सामूहिक-प्रक्रिया का

उभरना

संगतिन की जो सदस्याएँ इस सामूहिक-किताब का हिस्सा बनीं, उन्हें शुरुआत से यह भले ही न मालूम हो कि वे लेखिकाएँ बनने जा रही हैं, लेकिन स्वैच्छिक संगठनों के बीच रहते-रहते उन्हें यह अच्छी तरह अहसास हो गया था कि ज्ञान किसी भी मुद्दे के बारे में जिस तरह बटोरा, परोसा और बाँटा जाता है, उसकी भी एक राजनीति होती है। अक्सर यह लगता कि क्षेत्र में सामूहिक-रूप से काम करते हुए हम बड़े-बड़े मुद्दों की जटिलताएँ पहचान कर उन्हें संवेदनशीलता के साथ सुलझा ले जाते हैं। पर अक्सर उन मौकों पर, जहाँ अंग्रेज़ी बोलने वालों का बाहुल्य होता है, हम अपनी ही उपलब्धियों का बखान करने में पीछे हो जाते हैं। हमसे कम जानकारी रखने वाले कभी तो हमारे ही काम का यश

अंग्रेज़ी के दम पर जीत लेते हैं और कभी हमें उनकी ऐसी बातें माननी पड़ जाती हैं, जिनसे हम सहमत नहीं होते। इसी तरह की दूसरी दिक्कत तब आती है, जब हमें स्वयं अपने ही काम को कुछ ज़्यादा बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करना पड़ जाता है सिर्फ़ इसलिए, क्योंकि हमारे सामने कोई फण्डिंग-एजेन्सी या महत्वपूर्ण-हस्ती बैठी होती है। तब हम वही बोलने के लिए बाध्य होते हैं, जो वह चाहते हैं।

दलित या ग़रीब समुदायों के बीच जी कर कौन सबसे कठिन काम करता है, कौन उस काम के बारे में बातचीत करता है, कौन उस पर हिन्दी-अंग्रेज़ी में रिपोर्ट, लेख और पुस्तकें तैयार करता है और जब स्त्री-विमर्श पर चर्चा उठती है, तो कौन से लोग उस विमर्श में अपनी बात रखने के काबिल समझे जाते हैं और किन्हें सिर्फ़ नुमाइश के लिये बुलाया जाता है? यह सारे प्रश्न हमारे समाज में व्याप्त अनेक असमानताओं से जुड़े हैं, इस बात को समूह की सदस्याओं ने बार-बार बड़ी गहराई से महसूस किया था। पर ये सारे अहसास निजी तकलीफों के रूप में महसूस किये थे—इन पर बातचीत करने का या अपनी एक ठोस समझ बनाने का सिलसिलेवार मौका नहीं मिला था।

1997 से 1999 के बीच एन.एस.वाय. में किया हमारा काम उत्तर प्रदेश के अन्दर और बाहर काफ़ी प्रकाश में आया, जब यहाँ की महिलाओं ने *गुड़िया* के त्योहार और शादी के बाद होने वाले शगुन से सम्बन्धित रीति-रिवाजों पर काम करके महिला-विरोधी मान्यताओं और परम्पराओं पर ज़ोरदार प्रहार किया। काम के चर्चित होते ही कई जगहों से शोधकर्ता प्रकट होने लगे—कहीं से किसी ने शोध-रपट करने की इच्छा व्यक्त की, तो कहीं से किसी ने डॉक्यूमेंटरी-फ़िल्म बनानी चाही ताकि इस प्रचार-प्रसार के ज़रिये अन्य लोग हमारे काम से कुछ सीखें। इसी तरह क्षेत्र के अन्य कामों के प्रस्तुतिकरण और उसके दस्तावेज़ीकरण की बातें चलती रहतीं।

लेकिन सीतापुर में काम करने वाली कार्यकर्ताओं को बार-बार लगता कि यदि हम इस शोध या दस्तावेज़ीकरण की प्रक्रियाओं का स्वयं एक अहम हिस्सा नहीं बन सके, और यदि इस काम से हमारी क्षमताओं में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई, तथा कोई अंग्रेज़ी पढ़ी-लिखी, क्लफ़दार सूती कपड़े पहने शहरी औरतों की टीम हमारे ही अनुभवों को लेते हुए हमारे ऊपर काम करके चली गयी, तो क्या ऐसे काम का हम ज़मीनी महिला कार्यकर्ताओं का इस्तेमाल होने से अलग भी कोई अर्थ होगा?

अतः मार्च 2002 में अचानक जब दोनों ऋचाओं की भेंट हुई, तो सबसे पहले बात शोध और दस्तावेज़ीकरण की राजनीति पर ही उठी। उत्तर प्रदेश के महिला संगठनों के साथ किये अपने कई सालों के अध्ययन से ऋचा नागर को यह स्पष्ट हो गया था कि इन संगठनों के राष्ट्रीय-स्तर पर बदलते ढाँचों के अन्तर्गत उनके भीतर उपजता स्तरीकरण किस तरह वर्ग की खाइयों को तेज़ी से बढ़ावा दे रहा था। इस काम के ज़रिये उन्हें यह अहसास भी अच्छी तरह से हो गया था कि इस स्तरीकरण और बढ़ते वर्गवाद के बारे में संगठन से जुड़ी औरतों के लिये-खासतौर से उनके लिये, जो उच्च पदों पर आसीन नहीं थीं—खुल कर बात कर पाना बहुत कठिन था। ऋचा नागर ऐसे साथियों की तलाश में थीं, जिनके साथ जुड़ कर वह शोध और दस्तावेज़ीकरण की प्रक्रियाओं से जुड़ी ग़ैरबराबरी पर बहुआयामी-संवाद स्थापित कर सकें और एक ऐसे सामूहिक-कार्य की योजना बना सकें जो लम्बे दौर तक चलने वाला हो और जिसमें उनकी भूमिका अध्ययन करके केवल अंग्रेज़ी में शोध-पत्र

लिखने तक सीमित न रहे, बल्कि उस समूह के साथ विचारों और क्षमताओं का ऐसा आदान-प्रदान भी हो, जिससे समूह से जुड़े सभी लोग सामूहिक और व्यक्तिगत रूप से अपनी समझ तथा अपने संघर्ष को कुछ आगे बढ़ा सकें।

ऋचा सिंह दस्तावेजीकरण की राजनीति से दुखी थीं। महिला संगठनों पर फण्डिंग एजेन्सियों के दबाव कुछ इस तरह पड़ रहे थे कि गाँव देहातों में हो रहे काम को दाता एजेन्सियों के हिसाब से माप-तौल कर, जब तक उसे चमकदार, कम्प्यूटरीकृत रपटों और आँकड़ों में तब्दील न किया जाये, तब तक उस काम और मेहनत की कोई वक़्त ही नहीं हो पा रही थी। गाँव की जिन महिला कार्यकर्ताओं ने बिना पैसे या नाम की चिन्ता किये, रात-दिन एक करके और निजी-जीवन में कितने ही विद्रोह व समझौते करके जाति, वर्ग तथा लिंग भेद के खिलाफ़ एक सामाजिक-संघर्ष में खुद को डुबो दिया था, उनसे न तो यह पूछा गया कि सशक्तीकरण को नापने का दावा करने वाले इन आँकड़ों और रपटों में कितनी गहराई है और न ही यह कि इस तरह की रिपोर्टाज से वे कितनी सहमत या सन्तुष्ट हैं? उन्हें यह भी नहीं बताया गया कि किन दबावों की वजह से उन्हें एक खास तरह की रिपोर्ट लिखने को बाध्य किया जा रहा है?

महिला-विमर्श में किस वर्ग के काम का प्रतिनिधित्व कौन, कैसे, और क्यों करता है, और महिला स्वैच्छिक संगठनों का बदलता स्वरूप किन ख़तरों को जन्म दे रहा है? जब संगतिन की सात और सदस्याएं दोनों ऋचाओं के साथ इन्हीं सवालों में उतरने लगीं तो हम सबको उम्मीद की एक नई किरण-सी लहराती नज़र आयी। क्या ऐसा सम्भव नहीं कि रीति रिवाजों, हिंसा, तथा जाति-भेद के मुद्दों पर जो काम सीतापुर ज़िले के मिश्रिख ब्लॉक में कार्यकर्ताओं ने इतने संघर्ष, लगन और मेहनत से किया है, उसका लेखा-जोखा वह स्वयं ही तैयार कर सकें? ऐसा क्या हो सकता है कि हम सब आपस में इस तरह जुड़ें कि ज़मीनी-संघर्ष करने का काम और उसके बारे में लिखने-पढ़ने, चिन्तन और विमर्श करने का काम बखिया के टाँकों की तरह पिरो कर हम सब ही सामने ला सकें? हम ऐसा काम स्वयं क्यों नहीं कर सकते, जो किसी दूसरे के लिये किया गया 'प्रोजेक्ट', रिपोर्ट या 'केस स्टडी' बनकर न रह जाये बल्कि हमारी खुद की समझ और क्षमताओं को बढ़ाये और आगे के सपने हमें किसी फण्डिंग-एजेन्सी के एजेण्डों के हिसाब से बनाने की जगह अपने हिसाब से बनाने की ताक़त दे?

मार्च 2002 में शुरू हुई यह बातचीत ऋचा नागर के अमरीका लौट जाने पर ख़त्म नहीं हुई, बल्कि इसने अधिक गति पकड़ ली; ख़तों और सामूहिक चर्चाओं के माध्यम से। एक मुक़ाम पर आकर हम सबने सामूहिक तौर पर इस काम को आगे ले जाने का फ़ैसला भी कर लिया। पर इसकी ठोस रूपरेखा क्या हो, इसमें कितने लोग भाग लें और वे कौन हों, किस आधार पर कुछ को लिया और कुछ को छोड़ा जाये? ये सब बातें अनिर्णीत रहीं दिसम्बर 2002 तक, जब ऋचा नागर पुनः सीतापुर आयीं। अस्सी महिलाओं के बीच हुई चर्चाओं के बाद हम इस नतीजे पर पहुँचे कि इस काम के पहले चरण में आठ-दस लोगों का समूह हो। यह भी तय हुआ कि इस काम में संगतिन के उन लोगों का जुड़ना सबसे बड़ा आधार हो, जिन्होंने सीतापुर में सबसे लम्बे समय तक ग्रामीण महिलाओं के साथ काम किया है। यह लोग बीच की कड़ी होने के कारण ग्रामीण महिलाओं के मुद्दों और परिवेशों के साथ एनजीओकरण की प्रक्रियाओं से भी भलीभाँति परिचित हैं, और खड़ी बोली में स्वयं को लिखित-रूप से

अभिव्यक्त करने में भी सक्षम हैं। दिसम्बर के दूसरे पखवाड़े में हम नौ लोगों की टोली रोज़ाना जमा होती और हमारे काम का स्वरूप, उद्देश्य, तरीका तथा नियम आदि क्या हों? इस पर सिलसिलेवार ढंग से चर्चा और बहस होती। इस गहरी बातचीत से जो आपसी समझ और यकीन बना, उसी के दम पर हम इस काम में होने वाले छोटे-बड़े खर्चों से लेकर इस किताब में लिखे हर अक्षर तक के सारे फ़ैसले सामूहिक-रूप से ले सके।

इन सात दिनों में हमने अपने काम का जो विस्तृत खाका खींचा, उसके बारे में दो चीज़ें ग़ौरतलब हैं: पहली यह कि इस खाके को बनाते समय हम पूरी तरह जानते थे कि किसी भी दीर्घकालीन-काम की प्रक्रिया स्थिर नहीं रहती। उसमें काम के आगे बढ़ने के साथ-साथ फेर-बदल करना भी ज़रूरी होता है। और दूसरी बात—हमने यह कोई पक्का फ़ैसला नहीं किया कि हम अपने काम को किस रूप में औरों के सामने लायेंगे या लायेंगे भी अथवा नहीं? हमारा मुख्य मक़सद था कि हम मिलकर एक ऐसी प्रक्रिया को साँचे में ढालें, जिससे हमें अपने जीवन और काम पर सोचने-विचारने और अपनी आगे की दिशाएँ निर्धारित करने की समझ और हौसला मिले। हम जानते थे कि हमारी इस यात्रा में कुछ पड़ाव ऐसे होंगे, जिनके आने की हमें पहले से उम्मीद रहेगी तो कुछ ऐसे भी होंगे, जिनके बारे में पहले से किसी को ख़बर तक नहीं पड़ेगी। यह किताब भी ऐसा ही एक पड़ाव है। इसके बारे में हमने दिसम्बर 2002 में ज़िक्र तो किया था, पर सचमुच यह कल्पना नहीं की थी कि आठ महीनों बाद ही हम अपनी डायरियों पर अनेक सामूहिक चर्चाएँ करने के बाद एक ऐसे मुक़ाम पर पहुँच जाएँगे, जहाँ अपनी ही डायरियों और चर्चाओं के उद्धरण छाँटते हुए हम इस पुस्तक के विभिन्न अध्यायों की परिकल्पना कर रहे होंगे।

000

लेखनी से आँसुओं तक: एक लम्बी हिस्सेदारी

समूह के रूप में हमने जब पहली बार डायरी लिखने का मन बनाया, तो पहला सवाल उठा कि डायरी तो हमने कभी लिखी नहीं है! फिर इसे लिखेंगे कैसे? क्या लिखेंगे, क्या नहीं? समूह को अपना लिखा पूरा सुनायेंगे कि कुछ ही हिस्से? इन सारे प्रश्नों के जवाब हमने आपस में चर्चा करने के बजाय सीधे डायरी लेखन के माध्यम से ही खोजने शुरू किये। दिसम्बर 2002 की गुलाबी धूप में हम में से कुछ लोग एक ही चटाई पर बैठ कर अपने-अपने जीवन में लीन हो गये, कुछ पेड़ों के तले और कुछ मुँडेरों पर या दालानों में बिखर गये। हम सबने एक घंटा डायरी लिखी, अधिकतर अपने बचपन पर। फिर गोल घेरे में वापस बैठकर जब हमने सबके साथ अपना लिखा एक-एक करके सुनाना और बाँटना शुरू किया, तब नौ-जोड़ी आँखों में से इतने सारे बादल घुमड़-घुमड़ कर बह चले कि रोके न रुके।

यह समझने में हमें तनिक भी देर नहीं लगी कि लिखने और बाँटने का यह काम खूबसूरत होगा। पर कहाँ से लायेंगे लिखने का समय? कहाँ से पायेंगे ऐसा कोना, या ठिकाना, जहाँ बैठकर हम बिना किसी डर के वह सारे आँसू और वह सारे सपने डायरी के पन्नों पर उतार सकेंगे, जो हमारे भीतर बरसों से उमड़ रहे हैं और कभी थमे नहीं?

अब लिखने और बाँटने का जो सिलसिला चल पड़ा, उसका थम पाना असम्भव था। इस बाँटने में क्या कहना है क्या नहीं कहना, इसका कोई नियम बना पाते, उससे पहले ही चाँदनी ने समूह को हिला कर रख दिया! अपनी पहली बिटिया से अपने दर्दनाक-बिछोह की घटना, जिसे उसने सत्रह बरसों से अपने मन की डिबिया में कैद करके अपने मुँह पर ताला जड़ लिया था और जिसे उसने कभी किसी से न कहने की अपने पति व बाप के सामने कसम खाई थी, अचानक उसने समूह पर विश्वास करके उस डिब्बी को ऐसे खोल दिया; जैसे कोई शायरा अपनी सबसे दर्दिली और प्यारी नज़्म पढ़ने लगे। समूह से सबसे आखीर में जुड़ने वाली चाँदनी इतनी बड़ी बात खट से और बेझिझक ऐसे बता गयी, मानो समूह से कह रही हो कि अब यह बोझ मेरा ही नहीं रहा; इसमें अब तुम सबकी हिस्सेदारी बन गयी है। जिस भरोसे के साथ चाँदनी ने अपने दिल में छिपी डिबिया हमारे सामने खोल कर धर दी उसने समूह को कुछ इस तरह झकझोरा कि उसके बाद दिलों में छिपी डिब्बियों को खोलना ही हमारा सबसे बड़ा मकसद बन गया—यानी विश्वास और पारदर्शिता के साथ सामूहिक सफ़र में हिस्सेदारी। यह साफ़ हो गया कि सब कुछ जो लिखा जायेगा, जो महसूस और याद किया जायेगा, वह एक-दूसरे से बाँटा भी जायेगा, वरना सामूहिकता के सहारे अपनी समझ बढ़ाने का हमारा उद्देश्य अधूरा रह जायेगा।

इस हिस्सेदारी को समूह ने निभाया भी खूब। बतौर मिसाल—जनवरी 2003 में जब कड़ाके की ठंड पड़ रही थी और मधुलिका की कोख में पल रहे बच्चे के दिन पूरे हो चुके थे, तब भी समूह बचपन की डायरी पर सामूहिक-चर्चा करने के लिये इकट्ठा हुआ और रात साथ ही गुज़ारी। चर्चा के तुरन्त बाद ही मधुलिका को सहसा प्रसव-पीड़ा शुरू हुई और चाँदनी के हाथों तथा सभी साथियों की मदद से रात्रि साढ़े तीन बजे मधुलिका के बेटे का जन्म हुआ। हमारी चर्चा की यह बहुत ही शुभ, सुखद और अर्थवान शुरुआत थी।

दिलों को जोड़ने वाली एक और घटना कुछ हफ़्तों बाद फिर घटी, जब चाँदनी की डायरी का वह हिस्सा उसके पति ने पढ़ लिया, जिसमें उसने अपनी किशोरावस्था और यौनिकता के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा था। डायरी पढ़ने के बाद पति के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा! वह मरने की धमकी देकर घर से बाहर चला गया। राधा, जो उसी गाँव में रहती थी, अपने पति के साथ चाँदनी के पति को समझा-बुझा कर घर वापस लायी, लेकिन उसके तुरन्त बाद राधा के पति ने राधा की डायरी के कुछ अंश पढ़ने की ज़िद की और राधा को न चाहते हुए भी वे अंश पति के साथ बाँटने पड़े।

किस तरह समूह की सात औरतों ने छुप-छुप कर, ढिबरियों की रोशनी में, और पतियों व बच्चों के बीच लिहाफ़ों में दुबक-दुबक कर ये बेशकीमत दस्तावेज़ लिखे; कितने निजी ख़तरे मोल लेकर लिखी गयीं ये डायरियाँ! इसका बयान करना कठिन है। संध्या ने जब-जब डायरी को छुआ, बरसों से जानबूझ कर भुला दी गयी वह रात याद आयी जब उसके पिताजी का क़त्ल हुआ था। राधा को रह-रह कर याद आये वह अपमान और वे पीड़ाएँ, जो उसने और उसके परिवार ने गाँव में एकमात्र अछूत परिवार होने के कारण सहे थे। गरिमा और पल्लवी ने यौनिकता और छेड़-छाड़ से सम्बन्धित वह सब कुछ बड़ी दिलेरी के साथ कह डाला, जिसे मान-मर्यादा बनाये रखने की आड़ में बाल-बच्चेदार औरतों को ज़बरन निगल जाना पड़ता है।

इस सबसे पूरे समूह को एक-दूसरे से हिम्मत मिलती रही; सोचने, याद करने, लिखने और बाँटने की। जून 2003 तक हर बीस-पच्चीस दिनों में संगतिन की आठों सदस्यार्यें सारे काम और जिम्मेदारियाँ निबटा और समय निकाल कर अपना लिखा एक-दूसरे से कहने-सुनने बैठतीं। दोपहर से कब रात हो जाती और कब अगला दिन उग आता, इसका पता कानों-कान किसी को न लगता! इन्हीं बैठकों में समूह के सदस्य हर लेखिका से तमाम सवाल करते और हर मुद्दे की तह में जाकर उस पर बातचीत करते। सालों साथ काम करते-करते सब यह मान बैठे थे कि हम तो एक-दूसरे के बारे में सब कुछ जानते हैं। पर जब डायरी लिखनी, सुननी और सुनानी शुरू की, तब लगा कि 'हमने तो बस एक छोटा-सा टुकड़ा देखा था अपनी साथियों के इतिहास और संघर्ष का। अभी तो इसी समूह में जानने को बहुत कुछ बाकी है—बाकी दुनिया तो दूर की चीज़ है।' जो चर्चाएँ उठतीं, उनमें भी निडर हो कर सारे मतभेद सामने लाने की कोशिश करते ताकि जो मन में खटकता हो, उसे ज़बरदस्ती उस तरह न निगलना पड़े, जिस तरह हमारे समाज ने हमें बार-बार निगलने को मजबूर किया है। जैसे, अक्सर यह सवाल उठता कि क्या एक ब्राह्मण महिला जाति-भेद के प्रति लाख संवेदनशील होने पर भी अछूत होने की पीड़ा को उस तरह महसूस कर सकती है, जिस तरह एक पासी या रैदास की बेटी? क्या एक खास समुदाय के खिलाफ़ हो रही सामाजिक-हिंसा को दूर से महसूस करने में और खुद झेलने में भारी फ़र्क़ नहीं है?

इसी तरह विवाह, यौनिक-आकर्षण, और विवाहेतर सम्बन्धों पर लम्बी बहसें हुईं। बाद में काम को लेकर पद और मान-सम्मान के प्रश्न भी काफ़ी जटिल बन कर उभरे। जैसे, महिलाओं के लिये काम करने वाले संगठन किस तरह व्यक्ति-विशेष द्वारा संचालित होते हैं। हालाँकि पद का मसला बार-बार ऋचा सिंह पर केन्द्रित हो जाता था—एन.एस.वाय. जैसे संगठन में ऋचा सिंह की एक खास जगह क्यों है? 'दीदी' के जिस नाम से लोग उन्हें इतने प्रेम से सम्बोधित करते हैं, उसमें कितने विरोधाभास समाये हुए हैं? समूह के सदस्यों ने यह भी महसूस किया कि ऋचा सिंह का नेतृत्व और संचालन उनके लिये कितनी अहमियत रखता है तथा कितने गहरे व बहुआयामी हैं उनके आपसी-सम्बन्ध। वे यह भी अधिक अन्तरंगता से जान सकीं कि किस तरह ऋचा सिंह ने खुद एक कार्यालयकर्मी के पद से गुज़र कर तथा एक एकल माँ का दायित्व निभाते हुए सीतापुर में एन.एस.वाय. की जिम्मेदारी सम्हाली। चाहे बहस का मुद्दा कितना ही जटिल हो, बातें हमेशा खुलकर, ईमानदारी से, और बिना किसी लाग-लपेट के कही-सुनी और लिखी जातीं, भले ही उसके बाद कितनी ही तकरारों और तकलीफ़ों के सहारे उस मुद्दे से निबटना पड़े।

कभी-कभी तो इस सफ़र के पड़ावों ने हमें हफ़्तों तक भीतर से हिलाये रखा। डायरियों को लिखते-लिखते हम कई बार यह सोच कर रो पड़े कि सालों-साल दूसरों के ही दुख-सुख को सुनने और सुनाने के इतने आदी हो चुके थे कि अपना कुछ किसी को सुनाया ही नहीं—अपना बचपन और जवानी, अपनी माँओं के कष्ट, और अपने ही सपनों और दर्दों की कहानियाँ किस हद तक भुला बैठे थे! इसका अहसास तब होता, जब हम लिखने के लिये अपनी डायरी के पन्ने खोलते...। इन्हीं अहसासों के बीच हमें यह भी लगा कि हम लोग जाति और वर्ग के भेदभाव की जो बातें बहुत दिनों से कर रहे थे,

वे कितनी खोखली थीं। हमने पहचाना ही नहीं था कि इन्हीं भेदभावों और गैरबराबरियों में हमारे ही रिश्ते और समझ किस तरह लिपटे हैं।

शायद इतना सब कुछ कहने-सुनने और बाँटने से ही हम अगस्त 2003 तक यह निर्णय लेने की स्थिति में पहुँच गये कि हम इस काम को पुस्तक के रूप में पाठकों के सामने लाना चाहते हैं। सार्वजनिक रूप में सामने आने के पीछे यही सोच रही कि जब भी हम किसी व्यक्तिगत या डॉचागत मुद्दे के ऊपर गहराई से जाकर सोच-विचार करते हैं, तो वह सिर्फ व्यक्ति-विशेष या संस्था-विशेष की आलोचना मात्र नहीं रह जाती। वह तो फिर उन सारी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक-परिस्थितियों और प्रक्रियाओं से जुड़ जाती है, जिनके बीच हम सब जी रहे हैं तथा जिनमें सड़ती गन्दगी और दुर्गन्ध से हम सभी छुटकारा पाना चाहते हैं। क्यों डरें फिर हम वह सब कहने से, जो हमारे साथ घटित हुआ पर जिसको हम कह नहीं सके? इस वजह से कि बार-बार हमारे मुँह पर कस कर हाथ धर दिया—कभी हमारी माँओं और ताइयों ने, कभी बाबा और भाइयों ने, कभी ससुराल वालों ने और कभी अपने ही साथियों, उच्चाधिकारियों व मंत्रियों ने।

यहीं यह भी कहना ज़रूरी है कि क्यों दोनों ऋचाओं ने इस पूरे कार्य के दौरान अपने व्यक्तिगत अनुभवों को समूह के साथ मौखिक-रूप में तो बाँटा, पर उनकी बातें समूह की बाकी लेखिकाओं की तरह औपचारिक डायरी-लेखन का हिस्सा नहीं बनीं। जब हम दिसम्बर 2002 में डायरी-लेखन और उससे होने वाले विमर्श की योजना बना रहे थे, तब कई कारणों से समूह ने यह तय किया कि औपचारिक डायरी-लेखन के काम में टोली के उन्हीं सदस्यों का जुड़ना उचित है, जिनका अधिकतर जीवन सीतापुर के ग्रामीण इलाकों में बीता है। चूँकि *संगति* का काम सीतापुर में केन्द्रित है, अतः यह ज़रूरी लगा कि उसी परिवेश में उभरी कार्यकर्ताओं के जीवन और कार्यक्षेत्र की यात्रा का लेखा-जोखा बने। यह भी महसूस किया कि भले ही असमानताओं के प्रति हम कितने ही संवेदनशील क्यों न हों, दोनों ऋचाओं के डायरी-लेखन में भाग लेने से समूह में मौजूद शिक्षा, पद और परिवेश की खाइयों के और अधिक नुकीली बन जाने का खतरा रहेगा। हम बिल्कुल नहीं चाहते थे कि अनजाने में ही दोनों ऋचाओं की कहानियाँ समूह पर इस तरह हावी हो जायें कि आम ग्रामीण औरतों के संघर्ष को एन.जी.ओ. के काम और ज्ञानोत्पादन की राजनीति के सन्दर्भ में समझने का हमारा मक़सद ही धुँधला पड़ जाये। प्रक्रिया की शुरुआत के आठ महीनों के बाद जब डायरियों और चर्चाओं के आधार पर पुस्तक लिखने की बात उठी तब समूह ने इन सारे बिन्दुओं पर पुनर्विचार करके तय किया कि दोनों ऋचाओं की जिम्मेदारी पुस्तक बनने के हर चरण में चर्चाओं के आयोजन और संचालन पर केन्द्रित होगी। साथ ही वो हर अध्याय के लेखन और पुनर्लेखन पर तब तक काम करेंगी जब तक हर लिखित हिस्से को पूरे समूह की रज़ामन्दी न मिल जाय। अन्ततः जब डायरियों के आधार पर पुस्तक लिखने की बात उठी तो सभी बिन्दुओं पर सामूहिक रूप से विचार-विमर्श करने के बाद पूरी टोली ने यह तय किया कि दोनों ऋचाओं का मुख्य काम चर्चाओं का आयोजन, संचालन, संकलन-संपादन, सामूहिक विश्लेषण को सामने लाने, तथा लेखन पर केन्द्रित रहेगा।

क्या भूलें, क्या याद करें...?

डायरियों को पिराने का काम जब हम सामूहिक-रूप से करने बैठे, तो अहसास हुआ कि याद करने, भूलने और बिसरने के मायने भी हम सबके लिये अलग-अलग होते हैं। कौन-सी बातें हमारे दिलो-दिमाग में हमेशा के लिये नक्श हो जाती हैं, और कौन-सी बातें हम भूल जाते हैं? क्यों कभी-कभी हमें अपना बचपन याद ही नहीं आता, और कभी एक ही घटना जिस्मोजान पर इस क़दर हावी हो जाती है कि लेखन में उससे उबरना कठिन हो जाता है?

इन सारी प्रक्रियाओं की जटिलताओं को न तो कोई फॉर्मूला पकड़ सकता है और न ही इस तरह के लेखन को पूरी तरह नियमबद्ध किया जा सकता है। इसलिये आगे आने वाले पन्नों पर आप पायेंगे कि एक ही प्रसंग पर बात छिड़ने के बावजूद उस बात का केन्द्र हमेशा एक नहीं रहता। राधा को जहाँ बचपन के नाम पर भूख और तिरस्कार याद आता है, वहीं गरिमा को बाप की शराब, और पल्लवी को अपने साथ अबोध अवस्था में किया गया यौनिक-शोषण। चाँदनी जब अपनी यादों को फोकस करने बैठती है, तो बार-बार स्मृति का लेन्स उसकी पहली शादी पर ठहर जाता है, जिसने उसे बहुत ज़िल्लत और मार-पीट झिलाने के बाद अपनी बेटे से बिछुड़ जाने पर मजबूर कर दिया! संध्या, यौनिकता का प्रश्न आने पर हर बार मुँह मोड़ लेती है और बचपन में देखा वही पारिवारिक-क़त्लेआम उसकी रूह को हमेशा कँपाता रहता है, जिसकी वजह से घरवालों ने उसका नाम आभा से बदल कर संध्या कर दिया था! शिखा के लेखन में बार-बार यह पीड़ाजनक शिकायत उभर कर आती है कि एक सम्पन्न परिवार में पैदा होने के बावजूद क्यों उसे आजीवन इतनी ग़रीबी और अभावों में रहना पड़ा? और मधुलिका को रह-रह कर याद आते हैं अपने ही वे हँसी-ठहाके, जिनसे उसके घर-परिवार को सख्त शिकायत और नफ़रत थी। जब-जब किसी बातचीत में रैदासों का ज़िक्र आता है, एक आक्रोश और कड़वाहट भर जाती है मधुलिका के भीतर। उसका मन करता है कि सबको तुरन्त ख़ामोश कर दे... पर इन अस्थिर केन्द्रों और लेन्सों के बावजूद हर अनुभव गड़ा रहता है अपने ही परिवेश में, मान-सम्मान, इज़्ज़त-आबरू और ऊँच-नीच की राजनीति में, तथा अपने आगे के सपने देखने और पूरा करने का साहस जुटा पाने की लालसा में!

000

इस पुस्तक के अध्यायों का क्रम हमने लेखिकाओं की डायरियों के क्रम पर ही आधारित किया है—पहले बचपन, फिर किशोरावस्था, शादी और मातृत्व तथा अन्त में कार्यक्षेत्र से जुड़े संघर्ष और अनुभव। परन्तु यह ज़रूरी है कि हम इन अध्यायों को सिर्फ़ सीतापुर की सात औरतों की ही कहानी न समझ बैठें, बल्कि नौ संगतिनों की सोच-समझ, दृष्टि और विमर्श को गहराई से जान सकें। इसलिये हमारा आखिरी अध्याय महिला संगठनों की जटिलताओं व राजनीति पर जाकर टिकता है। महिला-आन्दोलन और सशक्तीकरण को लेकर जो सवाल आज बार-बार हर जगह उठ रहे हैं, उनके विषय में एक सोद्देश्य गठबन्धन हमें कहां तक ले जा सकता है? इस समूह की लेखिकाओं ने महिला मुद्दों के एनजीओकरण को किस तरह अनुभव किया है और किस तरह आँका है? अपने जीवन और

कार्यक्षेत्र के संघर्षों के आधार पर कैसे यह छोटा-सा समूह आगे की अपनी दिशा तय कर रहा है, अपने भविष्य के लिये सपने सँजो रहा है? यह सब वे सवाल हैं, जिनके जवाब हम अक्सर ऊपर बैठे लोगों से तो सुनते हैं, लेकिन नीचे बैठी कार्यकर्ता से नहीं। हमारी यह किताब इन्हीं सब चर्चाओं को एक नये ढंग से आगे बढ़ाने की कोशिश है।

तो बस, इस प्रस्तावना से ही शुरू करते हैं हम एक सामूहिक-यात्रा की दास्तान।

000